दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक तीसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

ज्येष्ठ
२४७९

सर्वज्ञ भगवान का नंदन

धर्मी जीव अपने आत्मवैभव को जानता है कि अहो! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति मुझमें वर्तमान ही भरी है।—इसप्रकार स्वभावसामर्थ्य की श्रद्धा करते ही वह अपूर्व श्रद्धा, जीव को बाह्य में उछल-कूद करने से रोक देती है और उसके परिणाम को अन्तर्मुख कर देती है। स्वभावसन्मुख हुए बिना सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति नहीं होती। इसप्रकार आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करने से उसी में मोक्ष की क्रिया-धर्म की क्रिया आ जाती है। अल्पज्ञ पर्याय के समय भी सर्वज्ञत्वशक्ति होने का जिसने निर्णय किया, उसकी रुचि का बल अल्पज्ञ पर्याय पर से हटकर अखण्ड स्वभावोन्मुख हो गया है, इसलिये वह जीव ''सर्वज्ञ भगवान का नंदन'' हो गया है। जो आत्मा अपने ऐसे ज्ञानवैभव की प्रतीति करे, वही सच्च्चा जैन और सर्वज्ञदेव का भक्त है।

[—पूज्य स्वामीजी के उद्गार]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

११

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

१– अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ
२– आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?
३– समवशरण कब और किसे होता है ?
४– धर्म की इकाई

बंधभाव और मोक्षभाव

जिस भाव से मोक्ष हो, उस भाव से बंधन नहीं होता; और जिस भाव से बंधन हो, उस भाव से मोक्ष नहीं होता। बंधभाव और मोक्षभाव, वह दोनों भिन्न–भिन्न हैं।

प्रश्न : शुभ–अशुभभाव कैसे हैं ?

उत्तर : शुभ–अशुभभाव पुण्य–पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं परन्तु आत्मा की शुद्धता को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। शुभवृत्ति, वह पुण्यबंधन का भाव है और अशुभवृत्ति पापबंधन का भाव है—इसप्रकार वे दोनों बंधनभाव हैं, विकार हैं, आत्मा के गुणों में वे सहायक नहीं हैं; इसलिये शुभ–अशुभभाव, मोक्ष का कारण नहीं हैं; मोक्ष का कारण तो शुद्ध आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान और रमणतारूप वीतरागभाव है, वही धर्म है।

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४७९ ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक तीसरा

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
कुछ शक्तियाँ

ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाने तो सम्यग्ज्ञान और धर्म होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनंत धर्म विद्यमान हैं। उस आत्मा का ज्ञान कराने के लिये यहाँ आत्मा की शक्तियों का वर्णन चलता है। अभी तक निम्नोक्त सात शक्तियों का वर्णन हुआ है:—

(१) सर्वप्रथम जीवत्वशक्ति बतलाई है। जड़ में अस्तित्व है, किन्तु जीवत्व नहीं है; आत्मा में जीवत्व त्रिकाल है, इसलिये वह चैतन्यप्राण द्वारा सदैव जी रहा है। आत्मा पर को जिलाये अथवा स्वयं पर से जिए–ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

(२) दूसरी चितिशक्ति है। यदि यह चितिशक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाए और जीव को जाने कौन? यह चेतनाशक्ति सदैव जागृतिस्वरूप है।

(३–४) दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति कहकर चेतना की क्रिया बतलाई है; दर्शन समस्त पदार्थों के सामान्य अवलोकनरूप है, और ज्ञान समस्त पदार्थों को विशेषरूप से जाननेवाला है।

(५) पाँचवीं सुखशक्ति कहकर उसमें सम्यक्त्व और चारित्र—दोनों का फल समा दिया है। ज्ञान–दर्शनमय आत्मा की प्रतीति करे, ऐसी एक सम्यक्त्वशक्ति है, और उसमें लीन हो ऐसी चारित्रशक्ति है। आत्मा की प्रतीति करके उसमें लीन होने से परम अनाकुल शान्त अह्लादरूप सुख का अनुभव होता है।—ऐसी सुखशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

(६) छठवीं वीर्यशक्ति है। आत्मा का सुख सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक प्रगट होता है; वह पुरुषार्थ अर्थात् वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; उसके द्वारा स्वरूप की रचना होती है। द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों आत्मा का वीर्य है।

(७) सातवीं प्रभुत्वशक्ति के वर्णन में तो अद्‌भुत बात की है। इस प्रभुत्व के कारण आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्रता से शोभायमान हैं। यह प्रभुत्वशक्ति आत्मा के प्रताप को अखण्ड रखती है; आत्मा की प्रभुता आत्मा में ही विद्यमान है—ऐसा वह बतलाती है।

इसप्रकार सात शक्तियों का वर्णन किया। अब, विभुत्व नाम की आठवीं शक्ति का वर्णन करते हैं।

[८]

विभुत्वशक्ति

आत्मा की विभुता का वर्णन

सर्व भावों में व्यापक ऐसे एकभावरूप विभुत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। आत्मा अपने समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त विभु है, और उसका ज्ञानादि प्रत्येक गुण भी सर्वभावों में व्याप्त होनेवाला है। यदि एक गुण सर्व गुणों में व्याप्त न हो, तो अनंतगुणों का अभेद पिण्ड अनुभव में नहीं आ सकता और सर्व गुणों की अभेदता का आनंद भी नहीं आ सकता। 'विभु' का अर्थ व्यापक होता है। विभुत्वशक्ति से आत्मा विभु है, इसलिये अपने सर्व भावों में विद्यमान होने पर भी एकभावरूप है। ज्ञानगुण समस्त गुणों में व्याप्त होता है - ऐसा ज्ञान का विभुत्व है। इसप्रकार अनंत गुण हैं; उनमें से प्रत्येक गुण अन्य सर्व गुणों में व्यापक है—ऐसा अनंत गुणों का विभुत्व जानना। राग-द्वेषादि में ऐसा विभुत्व नहीं है कि वे आत्मा के समस्त भावों में व्याप्त हो। आत्मा के विभुत्व में रागादिभाव वास्तव में व्याप्त होते ही नहीं; एक समय की राग-पर्याय, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि समस्त गुणों में व्याप्त नहीं हो सकती; यदि राग त्रिकाल गुण में व्यापक हो जाए तब तो वह कभी अलग नहीं हो सकता। एक समयपर्यंत का राग अन्य गुणों में तो व्याप्त नहीं है, परन्तु अखण्ड चारित्रगुण में भी व्याप्त नहीं है—जबकि आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, जीवत्व, अस्तित्वादि शक्तियाँ तो समस्त गुणों में त्रिकाल व्याप्त हैं।—ऐसा आत्मा की विभुत्वशक्ति का वैभव है; उसे

जानने से रागादिभावों की ओर का उत्साह नीरस हो जाता है, और रुचि का उत्साह त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख हो जाता है।

आत्मा लोकालोक में व्याप्त नहीं है, परन्तु अपने समस्त भावों में व्याप्त है। यहाँ विकारी भावों को आत्मा का नहीं गिना है, क्योंकि यह तो स्वभावशक्ति का वर्णन है। आत्मा बाह्य में सर्वव्यापक नहीं है, किन्तु अंतर में अपने भावों में सर्वव्यापक है; अपने अनंत गुण-पर्याय-स्वरूप में आत्मा व्याप्त है। बाह्य में सर्व से भिन्न और अन्तर में—सर्वव्यापक ऐसा आत्मा का विभुत्व स्वभाव है। आत्मा की महिमा बाह्य में क्षेत्र की विशालता से नहीं है। आत्मा का क्षेत्र मर्यादित है, तथापि उसका स्वभावसामर्थ्य अचिंत्य-अमर्यादित है; उसी के द्वारा आत्मा की महिमा है। जिन्हें अंतरंगस्वभाव महिमा का भान नहीं है, ऐसे बाह्यदृष्टि जीव ही बाह्य में सर्वव्यापकता से आत्मा की महिमा मानते हैं; परन्तु आत्मा पर में कभी व्याप्त होता ही नहीं।

शरीर तो आत्मा में कभी व्याप्त ही नहीं है और न आत्मा कभी शरीर में व्याप्त है। राग, पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं है और आत्मा राग में व्याप्त नहीं है। निर्मल पर्याय में आत्मा एक समयपर्यंत व्याप्त है, परन्तु वह त्रिकाल व्याप्त नहीं है।

अस्तित्वादि गुण तो आत्मा में त्रिकाल व्यापक है। द्रव्य 'है', गुण 'है', पर्याय 'है', श्रद्धा 'है', ज्ञान 'है', चारित्र 'है',—इसप्रकार सर्व में अस्तित्व व्याप्त है। इसीप्रकार ज्ञानादि गुण भी सर्व में व्यापक हैं। इसप्रकार विभुत्वशक्ति का स्वरूप जानने से त्रिकाली आत्मा ही लक्ष में आ जाता है। त्रिकाली तत्त्व के सन्मुख देखने से उनकी शक्तियों का यथार्थ निर्णय होता है।

स्तुति में ऐसा आता है कि 'हे नाथ! आप विभु हो!' वहाँ कहीं कोई अन्य भगवान इस आत्मा में व्याप्त होनेवाले नहीं है। लोकालोक को जाने, ऐसा आत्मा का विभुत्व है; परन्तु लोकालोक में व्याप्त हो, ऐसा विभुत्व नहीं है। आत्मा अपने में रहकर तीनकाल, तीनलोक को जानता है। सम्पूर्ण तत्त्व एकरूप होकर अपने में अखण्ड व्यापकरूप से विद्यमान हैं; प्रत्येक शक्ति भी सम्पूर्ण तत्त्व में व्याप्त होकर पड़ी है। सर्व भावों में प्रसरित होने पर एकभावरूप रहे, ऐसा विभुत्व है। आत्मा अनंतभावों में व्याप्त होने पर भी एकरूप ही रहता है; एकरूप रहकर अनंत में व्याप्त होता है परन्तु अनंतरूप नहीं हो जाता। और ज्ञान-दर्शनादि प्रत्येक गुण भी अपना-अपना एकत्व रखकर सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त हैं; एक गुण अनंत गुणों में व्याप्त है। अस्तित्व समस्त गुणों

में व्यापक, ज्ञान समस्त गुणों में व्यापक, आनंद समस्त गुणों में व्यापक—इसप्रकार अनंतशक्तियों का विभुत्व समझ लेना चाहिए। ''विभुत्वशक्ति'' तो एक है; परन्तु उसने सम्पूर्ण आत्मा को और सर्व गुणों को विभुता दी है। जिसप्रकार अस्तित्वगुण से सब अस्तिरूप हैं; उसीप्रकार विभुत्वशक्ति से सब विभुस्वरूप हैं।

एक गुण दूसरे अनंतगुणों में व्याप्त होता है, और एक गुण में दूसरे अनंत गुण व्याप्त होते हैं। कोई एक गुण ऐसा नहीं है कि जिसमें दूसरे गुण व्याप्त न हों। देखो, यह आत्मा के अंतरंग समाज की एकता! अनंत गुणों का समाज परस्पर व्याप्त होकर त्रिकाल ऐसी एकतापूर्वक विद्यमान है! ज्ञानगुण सर्व में व्यापक है, ऐसी सत्ता की विभुता है। यदि अस्तित्व में ज्ञान न हो तो अस्तित्व अचेतन सिद्ध होगा; और यदि ज्ञान में अस्तित्व न हो तो ज्ञान अभावरूप सिद्ध हो। उसीप्रकार यदि आनंद में ज्ञान न हो तो आनंदगुण ज्ञानरहित जड़ हो जाए; और यदि ज्ञान में आनंद न हो तो ज्ञानगुण आनंदरहित—बिल्कुल नीरस हो जाये।—इसप्रकार समस्त गुण एक दूसरे में व्याप्त हैं। पुण्य-पाप के विकारीभाव तो एक गुण की एकसमयपर्यंत की पर्याय में ही व्यापक हैं, दूसरे अनंत गुणों में, दूसरे समय की पर्याय में वे विकारीभाव व्याप्त नहीं हैं; इसलिये विकार में विभुत्व नहीं है, विकार वस्तु का स्वरूप नहीं है। अनंत गुणों में एक गुण व्यापक और एक गुण में अनंत गुण व्यापक—ऐसा आत्मगुणों का समाज है।

अस्तित्वगुण सबमें व्याप्त होकर सबको अस्तिरूप से रखता है;—जैसे कि, ज्ञान का अस्तित्व, आनन्द का अस्तित्व इत्यादि।

वस्तुत्वगुण सब में व्याप्त होकर समस्त गुणों के प्रयोजन को सिद्ध करता है;—जैसे कि, ज्ञान का प्रयोजन जानना, आनंद का प्रयोजन अनाकुल आह्लाद देना इत्यादि।

द्रव्यत्वगुण सब में व्याप्त होकर सबको परिणमित करता है;—जैसे कि, ज्ञान का परिणमन, आनंद का परिणमन इत्यादि। आत्मद्रव्य परिणमित होने से उसके समस्त गुणों का परिणमन हो जाता है।

प्रमेयत्वगुण ने सब में व्याप्त होकर समस्त गुणों को प्रमेयरूप बनाया है; चेतना ने सब में व्याप्त होकर सबको चेतनारूप बनाया है; विभुत्व ने सब में व्याप्त होकर सबको व्यापकरूप बनाया है।

—इसप्रकार एक विभुत्वशक्ति का स्वीकार करने से अनंत गुणों का अखण्ड समाज तैयार होता है। ऐसे अखण्ड तत्त्व की दृष्टि ही धर्मी की दृष्टि है। धर्मी जीव एक-एक समय की पर्याय को अथवा एक-एक शक्ति का भेद करके मुख्यरूप से नहीं देखता, परन्तु त्रिकाली तत्त्व को ही मुख्यरूप से देखता है। धर्मी की दृष्टि त्रिकाली तत्त्व पर स्थिर हो गई है।

एक घर में रहनेवाले दस मनुष्य एक-दूसरे में व्याप्त नहीं हो सकते, परन्तु चैतन्य-गृह में रहनेवाले अनंत गुण एक-दूसरे में व्यापक हैं। एक ही घर में रहनेवाले दस व्यक्तियों में तो कोई कहीं से आया है और कोई कहीं से; और अल्प काल में कोई कहीं चला जाता है और कोई कहीं; वहाँ किसी का किसी के साथ कोई लेनदेन नहीं है—सब पृथक्-पृथक् है; परन्तु आत्मा के अनंत गुण तो त्रिकाल एकत्रित ही रहनेवाले हैं, वे कभी पृथक् नहीं होते। आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है कि जिसमें संसारभाव व्याप्त हो; संसारभाव को उत्पन्न करके उसमें व्याप्त हो ऐसा आत्मा के किसी गुण का स्वरूप नहीं है।

जिसप्रकार सुवर्ण में उसका पीलापन, चिकनापन, और भारीपन सर्वत्र व्यापक हैं, उसीप्रकार चैतन्यधातु में अनंत गुण सर्वव्यापक हैं, और चैतन्यवस्तु एक पिण्डरूप से सर्व गुणों में व्यापक है; ऐसी आत्मा की विभुता है। ''एक आत्मा क्षेत्र से सर्व व्यापक विभु है अर्थात् जड़ चेतन समस्त पदार्थों में विभु का वास है''—ऐसा अज्ञानी कहते हैं; परन्तु यहाँ तो एक आत्मा अपने अनंत गुणों में सर्वव्यापक रहकर, जड़-चेतनादि सर्व का ज्ञाता विभु है—ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

अस्तित्व मुख्य करके देखो तो आत्मा के समस्त गुणों में अस्तिपने का भास होता है, जीवत्वशक्ति को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में जीवत्व का भास होता है, ज्ञान को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में ज्ञान का भास होता है। आनंद को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में आनंद का भास होता है;—इसप्रकार एक गुण के साथ ही साथ अनंत गुणों का पिण्ड बंधा हुआ है। एक गुण का भेद करके लक्ष में लेना, वह राग का विकल्प है; अनंत गुणों के अभेद पिण्ड को लक्ष में लेना, वह वीतरागता है।

देखो, आँख, कान आदि इन्द्रियों को बन्द करके भी अन्तर में ''मैं ज्ञान हूँ, मैं सहज आनंद हूँ''—ऐसा विचार होता है न? वह विचार कौन करता है? किस सामग्री से वह विचार करता है? विचार अर्थात् ज्ञान करनेवाला आत्मा स्वयं ही है; बाह्य सामग्री का अभाव होने पर भी अंतर में

अखण्ड स्वभावसामग्री विद्यमान है; उसके अवलम्बन से स्वयं विचार करता है। आत्मा के अन्तर में कहीं आँख, कान इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ और राग के अवलम्बन बिना ही आत्मा की चैतन्यसत्ता में ज्ञान का कार्य होता है; इसलिये निश्चित होता है कि इन्द्रियों से और राग से चैतन्यसत्ता पृथक् है। अनंत गुणों का एकरूप पिण्ड अंतर में भासित होता है, वह किसके अस्तित्व में भासित होता है ?—राग की सत्ता में या जड़ इन्द्रियों को सत्ता में वह भासित नहीं होता, परन्तु चैतन्य की सत्ता में ही अनंत गुणों का एकरूप पिण्ड भासित होता है। उस चैतन्यसत्ता के स्वीकार से धर्म का प्रारम्भ होता है।

शरीरादि परवस्तुओं का तो आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में त्रिकाल अभाव है। जो क्षणपर्यंत के रागादि व्यवहार-परिणाम होते हैं, वे सम्पूर्ण द्रव्य में या उसके गुणों में व्याप्त नहीं होते; समस्त गुणों के पर्याय में भी वे रागादि व्याप्त नहीं होते और न एक गुण की समस्त पर्यायों में भी व्याप्त होते हैं; मात्र एक गुण की एक पर्याय में एक समयपर्यंत ही वे रागादिभाव हैं; जबकि उसी समय इस ओर अंतर में अनंत गुण-पर्याय में त्रिकाल व्यापक अखण्ड विभुतावान् भगवान् आत्मा है।—तो किसकी मुख्यता की जाये ? किसका आदर-बहुमान किया जाये ?—क्षणिक राग का अथवा अखण्ड विभुतावान आत्मा का ? अखण्ड विभु का अनादर करके तुच्छ राग का आदर करना, वह महान् अधर्म है ! धर्मी जीव तो अखण्ड विभु ऐसे निजात्मा का ही आदर करते हैं; धर्मी की अन्तरदृष्टि में राग का अभाव है।

इसके पूर्व आचार्यदेव ने १८२ वें कलश में भी आत्मा को ''विभु'' कहा था। वहाँ कहा था कि विभु ऐसे शुद्धचैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है; समस्त विभावों से रहित शुद्धचैतन्यभाव वह विभु है। वहाँ 'सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक'—ऐसा विभु का अर्थ किया था। आत्मा और उसका प्रत्येक गुण समस्त गुण-पर्यायों में व्यापक हैं—ऐसी आत्मा की विभुता है। बाह्य लक्ष्मी आदि की विभुता आत्मा में नहीं है। जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यविभुत्व का विश्वास करे, उसे अनंत गुण की विभूति—केवलज्ञानादि निजवैभव प्रगट होता है।

ज्ञानमात्र आत्मा में यह विभुत्वादि अनंत शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान हैं।

[यहाँ आठवीं विभुत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ]

''आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?''

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य स्वामीजी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

लेखांक ९] [अङ्क ९५ से आगे

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में जिज्ञासु जीव प्रश्न करता है कि—''प्रभु ! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है ?'' उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि ''आत्मा अनंत-धर्मोंवाला एक द्रव्य है, और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञानप्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।'' ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है; उसमें से १४ वें द्रव्यनय पर विवेचन चल रहा है।]

(१४) द्रव्यनय से आत्मा का वर्णन

प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय अनंतधर्मों की ऋद्धि है; उसे किसी अन्य के आश्रय से आवश्यकता नहीं है। ऐसे आत्मा को ख्याल में लिये बिना अनादि से अज्ञानी जीव भवभ्रमण कर रहा है; और जबतक आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञान और रुचि में नहीं आयेगा, तब तक वह भवभ्रमण दूर नहीं हो सकता। आत्मज्ञान के बिना अनंतबार बाह्य पण्डित और त्यागी होकर भी जीव संसार में भटका है। शास्त्र भी अनंत बार पढ़े परन्तु आत्मा को नहीं जाना। अपने आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसे जाने बिना परसन्मुख रहकर ही सबकुछ किया है; अपने आत्मस्वभाव के अन्तरसन्मुख होकर कभी उसकी रुचि-प्रतीति नहीं की। यदि आत्मस्वभाव की रुचि-प्रतीति करे तो यह भवभ्रमण दूर हो जाये। जिसे भवभ्रमण का त्रास है; और आत्मा को समझकर भवभ्रमण से

छूटना चाहता है, ऐसे जिज्ञासु जीव को यहाँ आचार्यदेव आत्मा का स्वरूप समझाते हैं।

आत्मा कैसा है—उसकी यह बात चल रही है; उसमें यह चौदहवाँ बोल है। आत्मा त्रिकाली द्रव्य है; उसकी भूतकाल में जो पर्यायें हुईं और भविष्य में जो होंगी, उन पर्यायोंरूप से भी आत्मा वर्तमान में ज्ञात हो ऐसा उसका स्वभाव है। भूत-भविष्य में की पर्यायों को जान लेने की शक्ति ज्ञान में ही है; इन्द्रियों में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है। देखो, ज्ञान की कितनी महानता है! वह भविष्य की सिद्ध पर्यायरूप से आत्मा को वर्तमान में जान लेता है। आत्मा में अनंत गुण-पर्यायें हैं, उन सबकी ज्ञान जान लेता है, ऐसी शक्ति उसमें भरी है। तीन काल की पर्यायोंरूप होनेवाला मेरा द्रव्य है—ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, वहाँ ज्ञान द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर, विकल्प टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता। द्रव्यसन्मुख दृष्टि होते ही वर्तमान में अंशतः शुद्धतारूप भाव हुआ अर्थात् भूत-भविष्य की पर्यायरूप द्रव्य को जाननेवाले जीव के वर्तमान पर्याय में निर्मलता प्रगट है; वर्तमान पर्याय में अंशतः निर्मलतासहित भूत-भविष्य की पर्यायरूप से द्रव्य को जाने—ऐसा यह द्रव्यनय है।

जिस जीव के केवलज्ञान प्रगट होना है, उस जीव के केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म तो सदैव है। 'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म'—यह दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं। केवलज्ञान की शक्ति तो अभव्य में भी है; परन्तु केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म उसमें नहीं है। अभव्य में केवलज्ञान की शक्तिरूप स्वभाव है, परन्तु उसे कभी केवलज्ञान प्रगट न हो—ऐसा भी उसका स्वभाव है। यहाँ तो, जो जीव अपने द्रव्यस्वभाव का निर्णय करे, उस जीव के अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होता है—ऐसा स्वभाव होता ही है; उसे केवलज्ञान प्रगट न हो—ऐसा नहीं हो सकता। वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान प्रगट नहीं है, तथापि 'भविष्य में केवलज्ञान की पर्यायरूप से मेरा आत्मा होनेवाला है'—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने किसके सन्मुख देखकर निर्णय किया है? द्रव्य में केवलज्ञान होने का स्वभाव त्रिकाल भरा है, उसके सन्मुख देखकर उसने वह निर्णय किया है, इसलिये वर्तमान में तो वह साधक हो गया है और अल्पकाल में उसे केवलज्ञानदशा प्रगट हो जायेगी।

❀ ❀ ❀

यहाँ द्रव्यनय के दृष्टान्त में बालक का दृष्टान्त दिया है; वह बालक ऐसा है कि जो आयुष्यवंत है और भविष्य में सेठ होनेवाला है; उसे लोग भावी पर्यायरूप से लक्ष में लेकर कहते हैं

कि 'यह सेठ है।' वहाँ भविष्य में सेठ होनेवाला बालक वर्तमान में सेठरूप में प्रतिभासित होता है—ऐसा उसका धर्म है। उसीप्रकार सिद्धान्त में ऐसा जीव लेना चाहिए कि जो भविष्य में सिद्ध होनेवाला है; वह वर्तमान में सिद्धरूप से प्रतिभासित हो, ऐसा उसका धर्म है। धर्मी स्वयं अपने आत्मा को भविष्य की पर्यायरूप से वर्तमान में देखता है। इस द्रव्य में भविष्य में यह पर्याय होना है—इसप्रकार अपने ज्ञान में वह बात आ गई, तब द्रव्यनय लागू हुआ।

श्रीभगवान की वाणी में आया कि—"यह जीव भविष्य में सिद्ध होगा;" दूसरे श्रुतज्ञानी के ख्याल में वह बात आ गई; और "यह आत्मा सिद्ध है"—इसप्रकार भावी पर्यायरूप से उस आत्मा को वर्तमान में ख्याल में लिया, तो उस ज्ञान में द्रव्यनय है; वहाँ द्रव्यनय से देखने पर भविष्य की सिद्धपर्यायरूप से ज्ञात हो, वैसा धर्म तो उस आत्मा का है; भगवान की वाणी के कारण या ज्ञान के कारण उस ज्ञान का अस्तित्व नहीं है।

द्रव्यनय में दूसरा उदाहरण श्रमण हुए राजा का दिया है। पहले राजा हो और फिर वैराग्य प्राप्त करके मुनि हो गया हो, तथापि पूर्व की राजा पर्यायरूप से वर्तमान में भासित हो, ऐसा उसका धर्म है। सनतकुमार चक्रवर्ती मुनि हुए और उन्हें रोग हो गया; वहाँ द्रव्यनय से ऐसा कहा जाता है कि 'सनत्कुमार को रोग हुआ।'—इसप्रकार पूर्व की पर्यायरूप से ज्ञात हो, ऐसा वस्तु का धर्म है।

द्रव्य को भूतकाल की पर्यायरूप से जानना अथवा भविष्यकाल की पर्यायरूप से जानना—उन दोनों प्रकारों का द्रव्यनय में समावेश हो जाता है। भूतकाल की पर्यायरूप से जाना जाये, वह धर्म दूसरा और भविष्यकाल की पर्यायरूप से जाना जाये, वह दूसरा—इसप्रकार पृथक्-पृथक् दो धर्म नहीं हैं; एक धर्म में उन दोनों पक्षों का समावेश हो जाता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—यह चार निक्षेप हों, ऐसे चार धर्म प्रत्येक आत्मा में हैं; वस्तु स्वयं अनंत धर्मों का पिण्ड है, उसमें कहीं एक-एक धर्म पृथक् नहीं होता। एक-एक धर्म तो एक-एक नय का विषय है और सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण का विषय है। श्रुतज्ञान जाननेवाला है और धर्म उसकाा विषय है; एक नय का विषय एक धर्म है। वस्तु में अनंत धर्म हैं, उनमें से यदि एक अंश को भी कम माने तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। आत्मा को सर्वथा क्षणिक धर्मवाला ही माननेवाले बौद्ध की या सर्वथा कूटस्थ धर्मवाला माननेवाले वेदान्तादि की कोई बात इसमें नहीं रहती; क्योंकि वे सब तो एकान्त पक्ष को ही पूरा माननेवाले हैं; इसलिये उनका एक पक्ष भी सच्चा नहीं रहता। अंश अंशरूप से भी तब सच्चा कहलाता है कि जब अंशी के दूसरे अंशों को भी मानता हो! परन्तु जो एक

अंश को ही पूर्ण स्वरूप मान ले, उसके तो अंश अंशरूप से भी नहीं रहा और अंशी भी नहीं रहा, इसलिये उसके तो अंशी या अंश—कोई भी सच्चा नहीं है।

उसके तो पर्याय में राग ही उल्लसित भासित होता है। जिसे अखण्ड द्रव्य का भान है, ऐसे साधक जीव को पर्याय में द्रव्य उल्लसित प्रतिभासित होता है। वह जब भावनय से देखता है, तब उसे सम्यग्दर्शनादि वर्तमान पर्यायरूप से पूर्ण आत्मा भासित होता है। इसप्रकार वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित प्रतिभासित हो, ऐसा द्रव्य का धर्म है। अज्ञानी के आत्मा में भी ऐसा धर्म तो है, परन्तु उसे द्रव्य का भान नहीं है, इसलिये "वर्तमान पर्याय में द्रव्य उल्लसित होता है"—ऐसा उसे प्रतिभासित नहीं होता; इससे उसके भावनय नहीं होता। द्रव्य स्वयं पर्यायरूप से उल्लसित होता है—ऐसा जिसे भासित होता है, वह बाह्य आश्रय से पर्याय की निर्मलता का होना नहीं मानता। मेरी वर्तमान पर्याय में मेरा द्रव्य उल्लसित होता है—ऐसा जिसे प्रतिभासित हुआ, उसकी दृष्टि द्रव्य सन्मुख गई और सम्यक्ज्ञान हुआ और उसे भावनय लागू हो गया। इसके अतिरिक्त भावनय नहीं होता, क्योंकि भावनय सम्यक्ज्ञान का अंश है।

सर्वज्ञभगवान ने अनंत धर्मवाले आत्मा को प्रत्यक्ष देखा है; वैसा ही अनंत धर्मात्मक आत्मा साधक को श्रुतज्ञानप्रमाण से परोक्ष ख्याल में आता है; उसमें अंशतः स्वसंवेदनप्रत्यक्ष भी है। श्रुतज्ञान में अनंत नयों का समावेश हो जाता है; ऐसे श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके, जैसा सर्वज्ञ ने देखा, वैसा आत्मा अपने ख्याल में आये बिना ज्ञान सम्यक्प्रमाण नहीं होता; इसलिये यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा की यथार्थ पहिचान करायी है।

यहाँ ४७ नयों से आत्मस्वभाव का वर्णन किया है, उसमें से पन्द्रहवें नय का विवेचन पूर्ण हुआ। अन्त में नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव—इन चार नयों से आत्मा का वर्णन किया; अब सामान्य नय और विशेष नय से आत्मा का वर्णन करते हैं।

❀ ❀ ❀

(१६) सामान्यनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति व्यापक है। जिसप्रकार मोती की माला का डोरा सर्व मोतियों में व्याप्त होता है, उसीप्रकार आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त होता है।

भावनय से आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से प्रतिभासित होता है अर्थात् वर्तमान एक पर्याय में व्याप्त प्रतिभासित होता है—ऐसा कहा है; और कहते हैं कि सामान्यनय से आत्मा समस्त पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यरूप से दिखाई देता है। यह सामान्यनय बतलाता है कि हे जीव! अपनी पर्याय में

सदैव तू ही व्यापक है; तेरी पर्याय में अन्य कोई नहीं आता; इसलिये अपनी पर्याय प्रगट करने के लिये तुझे किसी पर के सन्मुख देखना नहीं रहता; किन्तु अपने द्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है।

जो कभी अपनी पर्याय में व्यापक नहीं है—ऐसे परद्रव्य पर दृष्टि रखने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती; परन्तु जो अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक है—ऐसे द्रव्य पर दृष्टि करने से-उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है; वह धर्म है। इसके अतिरिक्त शुद्ध आहार के कारण धर्म होता है—ऐसा जिसने माना है, उसने अपनी धर्मपर्याय में आत्मा को व्यापक नहीं माना, परन्तु अचेतन आहार को अपनी पर्याय में व्यापक माना है। परन्तु आहार तो परद्रव्य है, वह अपनी पर्याय में व्याप्त नहीं होता; तब फिर उसके कारण धर्म कैसे होगा? अपनी पर्याय में अपना आत्मा व्यापक है, वही धर्म का कारण है।

देव-गुरु-शास्त्र भी इस आत्मा की पर्याय में व्याप्त नहीं होते; इसलिये उन देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव या दु:खी जीवों की सेवादि का भाव, वह पुण्यभाव है, परन्तु वह धर्म की क्रिया नहीं है। धर्म की क्रिया कौन सी?—अनंत धर्म को धारण करनेवाले ऐसे निजात्मा को प्रथम श्रद्धा-ज्ञान में निर्णय करना और पश्चात् उसमें एकाग्र होना, वह धर्म की क्रिया है। धर्मी—ऐसा जो आत्मा है, उसी के आधार से धर्म की क्रिया होती है; आत्मा के अतिरिक्त पर के आधार से धर्म की क्रिया नहीं होती।

प्रथम द्रव्यनय से आत्मा को चैतन्यमात्र कहकर अभेदता बतलाई; और यहाँ सामान्यनय से आत्मा का सर्व पर्यायों में व्यापकपना कहकर सामान्यपना बतलाते हैं; यह सब एक-एक धर्म है और वह एक-एक नय का विषय है। सर्व गुण-पर्यायों में आत्मद्रव्य ही एकरूप से व्यापक है, इसलिये वह सामान्य है।—इसप्रकार सामान्य धर्म से द्रव्य को जानना, वह सामान्यनय है।

प्रत्येक धर्म के वर्णन में आचार्यदेव ने दृष्टान्त देकर समझाया है; यहाँ मोती की माला का दृष्टान्त है। जिसप्रकार माला अपने समस्त मोतियों में व्याप्त है; माला का डोरा अमुक मोतियों में हो और अमुक मोतियों न हो—ऐसा नहीं है; सभी मोतियों में माला का डोरा अखंड है; और उस माला का प्रत्येक मोती क्रमानुसार अपने स्थान पर जमा है, वह उल्टा-सीधा नहीं होता। उसीप्रकार आत्मद्रव्य अपनी अनादि-अनंतकाल की समस्त पर्यायों में व्याप्त है, कोई भी पर्याय आत्मद्रव्य से रहित नहीं होती, और वे समस्त पर्यायें क्रमानुसार हैं; कोई पर्याय उल्टी-सीधी नहीं होती। इसप्रकार द्रव्यनय का ऐसा व्यापक धर्म है कि वह अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त रहता है।

भावनय से देखने पर, द्रव्य वर्तमान पर्यायरूप ही प्रतिभासित होता है; द्रव्यनय से देखने पर

द्रव्य भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से प्रतिभासित होता है; और सामान्यनय से देखने पर वह तीनकाल की पर्यायों में व्यापकरूप से प्रतिभासित होता है।—इसका अर्थ ही यह हुआ कि वर्तमान की पर्याय वर्तमान में है, भूतकाल की पर्याय भूतकाल में है और भविष्य की पर्याय भविष्य में है; कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। यदि भविष्य की पर्याय का क्रम द्रव्य में निश्चित न हो तो द्रव्य भावी पर्यायरूप से प्रतिभासित ही नहीं हो सकता। जिसप्रकार मोती की माला में मोतियों का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; उसीप्रकार तीनकाल की पर्यायमाला में व्यापक—ऐसे द्रव्य में किसी पर्याय का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; और न पर के कारण कोई पर्याय होती है—यह बात भी इसमें आ ही जाती है। द्रव्य की पर्यायें अपने स्व-अवसर में ही होती हैं, आगे-पीछे नहीं होतीं—यह बात ९९ वीं गाथा के प्रवचनों में विस्तारसहित आ गई है।

यहाँ अध्यात्मनय हैं, इसलिये नय और नय के विषयभूत धर्म का एकरूप से वर्णन करते हैं। वस्तु के अनंत धर्मों में अनंत नय व्याप्त होते हैं—ऐसा कहकर नयों की स्वसन्मुखता बतलाई है; यह नय पर में व्याप्त नहीं होते परन्तु वस्तु के निजधर्मों में व्याप्त हैं, इसलिये परसन्मुख देखना नहीं रहा परन्तु वस्तुसन्मुख ही देखना रहा।

यहाँ कहते हैं कि आत्मद्रव्य में एक ऐसा धर्म है कि अपनी समस्त पर्यायों में वह व्याप्त है; कोई पर-पदार्थ तो आत्मा की पर्याय में व्याप्त नहीं होते और रागादि भावों में या पर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वे सर्व पर्यायों में व्याप्त हों! इससे इस व्यापक धर्म का स्वीकार करते हुए द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। आत्मद्रव्य में ही ऐसा धर्म कि वह सर्व पर्यायों में व्याप्त होता है; इसलिये किसी निमित्त पर, विकल्प पर या पर्याय पर मुख्यरूप से देखना नहीं रहा, किन्तु द्रव्य पर ही देखना रहा। अनादिकाल से जीव की दृष्टि अपने द्रव्य पर नहीं पड़ी है; परन्तु संयोग और विकार पर ही दृष्टि रखी है। सामान्य नय से सर्व पर्यायों में व्यापक ऐसे आत्मद्रव्य को जो जाने, उसके निर्मल पर्याय हुए बिना नहीं रहती। प्रत्येक धर्म ऐसा है कि उसका यथार्थतया निर्णय करते हुए सम्पूर्ण द्रव्य का ही निर्णय हो जाता है। सर्व धर्मों का आधार तो आत्मद्रव्य है, इसलिये उन धर्मों को देखने से धर्मी ऐसा आत्मद्रव्य ही प्रतीति में आ जाता है और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होते हैं।

प्रश्नः—आत्मद्रव्य समस्त पर्यायों में व्यापक है ऐसा कहा है; तो क्या आत्मा विकार पर्याय में भी व्यापक है?

उत्तरः—हाँ; विकार पर्याय में भी उससमय जितना आत्मा व्यापक है; परन्तु ऐसा जिसने

निर्णय किया, उसके अपनी पर्याय में अकेला विकारभाव ही नहीं होता, परन्तु साधकभाव होता है। क्योंकि ''विकारभाव कर्म के कारण नहीं होता, अर्थात् उसमें कर्म व्यापक नहीं है; उस विकार-पर्याय में आत्मद्रव्य ही व्यापक है''—ऐसा जिसने निर्णय किया उसे विकार के समय भी द्रव्य की प्रतीति नहीं हटती; इसलिये ''पर्याय में द्रव्य व्यापक है''—ऐसा निर्णय करनेवाले को मात्र विकार में ही व्यापकता नहीं रहती, परन्तु सम्यक्त्वादि निर्मल पर्यायों में व्यापकता होती है; और उसी के ऐसा सामान्यनय होता है।

इसप्रकार सामान्यनय से आत्मा का वर्णन किया; अब उसके साथ विशेषनय से आत्मा का वर्णन करते हैं।

(१७) विशेषनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य विशेषनय से, माला के एक मोती की भाँति अव्यापक है। जिसप्रकार माला का एक मोती पूरी माला में व्याप्त नहीं होता, इसलिये वह अव्यापक है; उसीप्रकार आत्मा की एक पर्याय समस्त पर्यायों में व्याप्त नहीं है; इसलिये विशेषनय से आत्मा अव्यापक है।

यह जो अनंत धर्म हैं, उन समस्त धर्मों को आत्मा ने धारण कर रखा है; इसलिये अनंत धर्मवान अखण्ड आत्मा की प्रतीति में इन समस्त धर्मों की प्रतीति आ जाती है। यदि आत्मा के समस्त धर्मों में से एक भी धर्म का निषेध करे तो उसे धर्मी ऐसा अखण्ड आत्मा प्रतीति में नहीं आ सकता; और यथार्थ आत्मा प्रतीति में आये बिना किसी भी प्रकार कल्याण का मार्ग प्रगट नहीं होता।

द्रव्य अपेक्षा से आत्मा समस्त पर्यायों में व्यापक है—ऐसे व्यापक-स्वभाव को सामान्य नय जानता है, और आत्मा की एक-एक पर्याय समस्त पर्यायों में व्याप्त नहीं होती, इसलिये पर्याय अपेक्षा से अव्यापक-स्वभाव है—ऐसा विशेषनय जानता है।

'नय' स्व-परप्रकाशक प्रमाणज्ञान का अंश है; प्रमाण से जाने हुए अनंतधर्मात्मक पदार्थ के एक अंश को मुख्य करके जाने, वह नय है। नयज्ञान वस्तु में एक धर्म को मुख्य करके जानता है; परन्तु उस समय वस्तु में जो दूसरे अनंत धर्म विद्यमान हैं, उनका वह निषेध नहीं करता। यदि अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध करके एक धर्म को ही जाने तो वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं है, और वह नय नहीं है किन्तु नयाभास है।

पर्याय अपेक्षा से आत्मा सर्वव्यापक नहीं है; क्योंकि एक पर्याय दूसरे पर्याय में व्याप्त नहीं होती; इसलिये एक पर्याय में से दूसरे पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिये पर्याय प्रगट होने के लिये

पर्याय के सन्मुख देखना नहीं रहा परन्तु सामान्य व्यापक ऐसे द्रव्य के समक्ष देखना रहा। मिथ्यात्वपर्याय दूर होकर द्रव्य के आश्रय से सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई, उन दोनों पर्यायों में द्रव्य व्यापक है, परन्तु सम्यक्त्वपर्याय में मिथ्यात्वपर्याय व्यापक नहीं है; इसप्रकार द्रव्यरूप से आत्मा व्यापक है और पर्यायरूप से अव्यापक है। यदि पर्याय अपेक्षा से आत्मा अपनी सर्व पर्यायों में व्यापक हो तो मिथ्यात्व-पर्याय भी सर्व पर्यायों में व्यापक हो जाये, इसलिये पर्याय में से मिथ्यात्व कभी दूर ही नहीं हो सकेगा! इसलिये पर्याय अपेक्षा से आत्मा व्यापक नहीं है। मिथ्यात्व-पर्याय दूर होकर सम्यक्त्वपर्याय होने से मानों सारा आत्मा ही बदल गया हो—ऐसा पर्याय अपेक्षा से ज्ञात होता है।

साधक की सम्यग्ज्ञान पर्याय बढ़कर केवलज्ञान नहीं होता परन्तु उस अपूर्ण पर्याय का अभाव होकर द्रव्य में से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है; पूर्व की पर्याय का उस केवलज्ञान पर्याय में अभाव है। साधक की सम्यग्ज्ञान पर्याय हुई, वह केवलज्ञान पर्याय में अव्यापक है, परन्तु द्रव्य स्वयं केवलज्ञान पर्याय में व्यापक है। इसलिये, केवलज्ञान पर्याय प्रगट करने के लिये किसके सन्मुख देखना?—व्यापक ऐसे द्रव्य की सन्मुखता से ही केवलज्ञान प्रगट होता है। जहाँ साधक की निर्मल सम्यग्ज्ञान पर्याय भी केवलज्ञान पर्याय में व्याप्त नहीं होती, तब फिर रागादिभाव तो आत्मा की निर्मल पर्याय में कैसे व्याप्त होंगे?

पर्याय के आश्रय से पर्याय नहीं होती; क्योंकि एक पर्याय दूसरी पर्याय में अव्यापक है; मोक्षमार्ग की पर्याय में से मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि मोक्षपर्याय में मोक्षमार्ग की पर्याय अव्यापक है। जहाँ एक निर्मल पर्याय भी दूसरी पर्याय की सहायता नहीं करती; तब फिर शुभरागरूप विकारी पर्याय अथवा शरीरादि जड़ की पर्याय आत्मा के धर्म की पर्याय में सहायक हो—यह बात ही कहाँ रही? एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अव्यापकपना है, इसलिये पर्याय का आश्रय छोड़, और सर्व पर्यायों में व्यापक ऐसे द्रव्य का आश्रय कर!

आत्मा अव्यापक है, अर्थात् उस-उस काल वर्तती पर्याय को ही वह प्राप्त करता है; वह एक के पश्चात् एक पर्याय को प्राप्त होता है, एकसाथ समस्त पर्यायों को प्राप्त नहीं होता;—ऐसा अव्यापकपना भी आत्मा का एक धर्म है; और वह त्रिकाल है। अव्यापकपना पर्याय अपेक्षा से है, तथापि वह धर्म तो आत्मद्रव्य का है; इसलिये पर्याय का व्यय हो जाने पर भी आत्मा के अव्यापक धर्म का नाश नहीं होता; दूसरे क्षण दूसरे क्षण की पर्याय में ही आत्मा व्याप्त होता है;—इसप्रकार

उसका अव्यापक धर्म चलता ही रहता है। विशेषरूप से देखने पर उस-उस समय की पर्याय में आत्मा व्याप्त होता है और सामान्यरूप से देखने पर वह अपनी त्रैकालिक पर्यायों में व्यापक है।

अज्ञानी लोग किसी ईश्वर को सर्व पदार्थों में व्यापक मानते हैं, वह तो भ्रमणा है। यहाँ तो कहते हैं कि चैतन्यपरमेश्वर समान तेरा आत्मा ही तेरी समस्त पर्यायों में व्यापक है; इसके अतिरिक्त आत्मा में अन्य कोई व्यापक नहीं होता और न आत्मा किसी अन्य में व्याप्त होता है।—ऐसे अपने आत्मा का विश्वास कर तो उसके आश्रय से तेरा कल्याण प्रगट हो जायेगा। द्रव्यरूप से व्यापक और पर्यायरूप से अव्यापक—ऐसे दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ ही विद्यमान हैं।—ऐसे सर्व धर्मों से आत्मवस्तु का निर्णय करने से समस्त विरुद्ध पक्ष दूर होकर ज्ञान की निर्मलता होती है।

❀ ❀ ❀

जिसप्रकार माला सर्व मोतियों में विद्यमान है, परन्तु माला का एक मोती दूसरे मोती में विद्यमान नहीं है। उसीप्रकार आत्मद्रव्य समस्त गुण-पर्यायों में व्यापक है, परन्तु उसकी एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्यापक नहीं है। द्रव्य-गुण त्रिकाल ज्यों के त्यों रहते हैं और पर्यायें प्रतिक्षण नवीन-नवीन होती हैं। पहले क्षण अज्ञानदशा थी और दूसरे क्षण ज्ञानदशा हुई; तो वहाँ पहले ही अज्ञान पर्याय दूसरी ज्ञान पर्याय में अव्यापक है, परन्तु द्रव्य तो दोनों पर्यायों में व्यापक है।

केवलज्ञान सादि-अनंत ज्यों का त्यों रहता है, परन्तु उसमें से पहले समय की केवलज्ञान पर्याय दूसरे समय की पर्याय में व्याप्त नहीं होती। दूसरे समय ''जयों की त्यों'' पर्याय होने पर भी ''वही की वही'' पर्याय नहीं है। एक समय की पर्याय में तीन काल को जानने का सामर्थ्य है, तथापि वह स्वयं तो एक क्षण ही टिकती है। क्षायिकभाव को सादि-अनंत कहा, वह तो प्रवाहरूप से है; परन्तु उसमें पहले क्षण का क्षायिकभाव दूसरे क्षण नहीं रहता; दूसरे क्षण दूसरा नवीन क्षायिकभाव प्रगट होता रहता है।—इसप्रकार पर्यायों का परस्पर अव्यापकपना है। ऐसा यथार्थ निर्णय करने से पर्याय के आश्रय की बुद्धि छूटकर द्रव्यसन्मुख बुद्धि होने से साधकभाव प्रगट होता है।

[४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसमें से १७ वें नय का विवेचन पूर्ण हुआ।]

समवशरण कब और किसे होता है ?

[समवशरण का स्वीकार करनेवाला जीव कैसा होता है ?]

वीर सं. २४७८, ज्येष्ठ कृष्णा ६ के दिन सोनगढ़ के समवसरण में
श्री सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा को दस वर्ष पूर्ण होकर
११ वाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ; उस महोत्सव-प्रसंग पर—
पूज्य स्वामीजी का मंगल-प्रवचन।

आज समवशरण का दिन है; यहाँ (सोनगढ़ में) श्री सीमंधर-भगवान के समवशरण की प्रतिष्ठा को दस वर्ष पूर्ण होकर आज ग्यारहवाँ वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। देखो, समवशरण क्या है, और उसका स्वीकार करनेवाले को कितना स्वीकार करना चाहिए ? प्रथम तो जगत में भिन्न-भिन्न अनंत आत्मा हैं; अनादि से आत्मा अपने स्वभाव का भान भूलकर चार गति में परिभ्रमण करता था। पश्चात् आत्मा का यथार्थ ज्ञान किया और पूर्ण वीतरागता नहीं हुई, वहाँ राग रहा; उस राग में किसी जीव को ऐसा शुभराग होता है कि उससे तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। जिनसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो, ऐसे परिणाम अमुक जीव को ही आते हैं, और उसी को तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। कोई जीव ऐसी इच्छा करे कि "मुझे तीर्थंकर होना है, इसलिये मैं शुभराग करके, सोलह-कारण भावना भाकर तीर्थंकर नामकर्म का बंध करूँ"—तो इस प्रकार तीर्थंकर नहीं हुआ जा सकता। जिसमें तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो, ऐसा राग सम्यग्दृष्टि की भूमिका में ही आता है; परन्तु धर्मी जीव को उस राग की या तीर्थंकर नामकर्म की भावना नहीं होती। और सम्यक्त्वी जीवों में भी सब को तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता। सभी सम्यक्त्वी जीवों का राग एक-सा नहीं होता। राग आत्मा के चारित्र-गुण की विपरीत अवस्था है। ज्ञानी को रागरहित स्वभाव का भान होने पर भी, जब तक वीतराग न हो, तबतक राग होता है; परन्तु उसमें जिसके निमित्त से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो, उसप्रकार का राग तो अमुक जीव को ही होता है। और तत्पश्चात् वह राग दूर करके वीतरागता प्रगट करके सर्वज्ञ हो, तभी उस तीर्थंकर नामकर्म का उदय आता है। वहाँ इन्द्रादि

आकर भक्तिपूर्वक तीर्थंकर भगवान के समवशरण की दैवी रचना करते हैं। ऐसा समवशरण वर्तमान में इस भरतक्षेत्र में नहीं है, परन्तु जब यहाँ महावीर परमात्मा बिराजमान थे, तब समवशरण था और देव आकर भगवान की सेवा करते थे। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा तीर्थंकररूप से बिराजमान हैं, उनका ऐसा समवशरण है। यहाँ तो उसका एक प्रतीक है।

देखो, समवशरण को स्वीकार करने से कितना स्वीकार करना आया ?

आत्मा है, वह एक ही नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न अनंत आत्मा हैं; उनकी अवस्था में विकार है। उस विकार के निमित्त से कर्मबंध होता है, अर्थात् जगत में अजीव तत्त्व भी हैं।

तीर्थंकर नामकर्म का बंध अमुक जीव को ही होता है, सब को नहीं होता; इसलिये जीवों के परिणाम की विचित्रता है। पर्याय में से विकार दूर होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होती है और ऐसी सर्वज्ञदशा में तीर्थंकर को समवशरण होता है।

वर्तमान में इस क्षेत्र में ऐसे तीर्थंकर नहीं हैं; इसके अतिरिक्त महाविदेहादि क्षेत्र इस पृथ्वी पर हैं और वहाँ सीमंधरादि तीर्थंकर भगवान विचर रहे हैं।

इसप्रकार जगत में जीव हैं, अजीव हैं, जीव की पर्याय में विकार है, विकार दूर होकर परमात्मदशा प्रगट हो सकती है; महाविदेहादि क्षेत्र हैं—यह सब स्वीकार करे तो समवशरण को मान सकता है।

जगत में भिन्न-भिन्न अनंत आत्मा हैं; प्रत्येक आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वभाव है, और प्रतिक्षण उसकी अवस्था बदलती है। उस अवस्था में श्रद्धा-ज्ञान सच्चे होने पर भी चारित्रगुण की अवस्था में अंशत: विपरीतता भी रहती है। चारित्र की विपरीतता से राग होता है; वह राग प्रत्येक जीव को एक सा नहीं होता, किन्तु उसमें प्रत्येक आत्मा को तारतम्यता होती है; किसी को अमुक प्रकार का राग आता है और किसी को अन्य प्रकार का। कोई जीव ऐसा मानता है कि "मुझे अमुक प्रकार का ही राग करना है;" तो वह जीव राग का कर्ता होता है; वह मिथ्यादृष्टि है। "मैं ज्ञानमूर्ति हूँ, राग का एक अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है;"—इसप्रकार जिन्हें आत्मा का भान हुआ हो, किन्तु अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो, वैसे जीवों में जो जीव तीर्थंकर होने योग्य हो, उसी को तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो, इसप्रकार के परिणाम आते हैं, और उसी को तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है; पश्चात् सर्वज्ञ-परमात्मदशा प्रगट होने से उसके समवशरण की विभूति का संयोग होता है।

देखो, अंतर में रागरहित चिदानन्दस्वभाव का भान... तथापि पर्याय में चारित्र की निर्बलता का राग... और उसमें भी जिस निमित्त से तीर्थंकर नामकर्म बंध हो, उस जाति का राग; उस राग के निमित्त से सामने तीर्थंकर-प्रकृतिरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु तथा उसके फल में समवशरण की रचना और आत्मा की पूर्ण वीतरागदशा में भी समवशरण की विभूति का संयोग—यह सब माने तभी समवशरण का यथार्थ रूप से स्वीकार कर सकता है।

तीर्थंकरप्रकृति का बंध किसे होता है ?—जिसे आत्मा का भान हो और राग का आदर न हो उसे। और उस प्रकृति का फल कब आता है ?—जब उस राग को दूर करके वीतरागी सर्वज्ञदशा प्रगट करे तब। तीर्थंकरप्रकृति का बंध हो, वह कहीं आत्मा के धर्म का फल नहीं है, वह प्रकृति तो राग से बँधती है। आत्मा के धर्म से कर्म का बन्धन नहीं होता। तीर्थंकरप्रकृति का बंध तो धर्मी को निचलीदशा में होता है, परन्तु उसका उदय तेरहवें गुणस्थान में ही आता है। जिस राग से तीर्थंकरप्रकृति का बंध हुआ, वह राग दूर हो जाने के पश्चात् ही उस प्रकृति का उदय आता है।—यह बात समझने योग्य है।

तीर्थंकरप्रकृति के फल में समवशरण होता है। जहाँ रागरहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई, उस भूमिका में ही वह प्रकृति बंधती है, और जहाँ रागरहित सर्वज्ञदशा प्रगट हुई, वहीं उसका उदय आता है; इसलिये वास्तव में जिसे रागरहित स्वभाव की दृष्टि का और सर्वज्ञदशा का भान हो, वही समवशरण को मान सकता है।

जिसे सामग्री का राग है, उसके सामग्री की पूर्णता नहीं होती। जिसे सामग्री का राग छूट गया है, उसी की सामग्री की पूर्णता होती है। देखो, यहाँ तीर्थंकर की बात लेना है। तीर्थंकर के पुण्य-सामग्री की पूर्णता होती है; परन्तु उन्हें सामग्री के ओर की वृत्ति का भाव ही नहीं रहा है, वे तो आत्मा के पूर्णानन्द के उपभोग में ही लीन हैं। जिसे पुण्य-सामग्री के उपभोग की इच्छा है, उसके पुण्य-सामग्री की पूर्णता नहीं होती। तीर्थंकर का पुण्य सर्वोत्कृष्ट होता है परन्तु उसका फल साधकदशा में नहीं आता; राग को दूर करके केवलज्ञान होने के पश्चात् ही उस तीर्थंकरप्रकृति का फल आता है; परन्तु उस समय उस जीव को सामग्री के उपभोग का रागभाव नहीं होता। पहले निचलीदशा में रागरहित पूर्णस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई, उस भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ; और फिर अंतर में पूर्णस्वभाव की भावना भाते-भाते केवलज्ञान प्रगट हुआ; वहाँ बाह्य में तीर्थंकरप्रकृति का उदय आया और समवशरण की रचना हुई; परन्तु उन केवली भगवान को संयोगों

के उपयोग के ओर की वृत्ति नहीं रही है। अहो! सौ सौ इन्द्र आकर तीर्थंकर के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं और दैवी समवशरण की रचना करते हैं, तथापि भगवान के राग नहीं है; भगवान तो अपने स्वरूप के पूर्णानन्द के उपभोग में लीन हैं। ऐसी पूर्णानन्दी वीतरागदशावाले जीव को ही समवशरण का योग होता है; रागी जीवों को समवशरण नहीं होता, इसलिये समवशरण का स्वीकार करनेवाले को आत्मा की ऐसी दशा की पहिचान करना चाहिए। जो ऐसी पहिचान कर ले उसके कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता रह ही नहीं सकती। अहो! आत्मा की पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो जाये, तथापि देह का और समवशरण का संयोग रहता है... पवित्रता और पुण्य का ऐसा मेल तीर्थंकर के होता है। जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ ऐसी बात है?—कहीं भी नहीं। इसलिये इस बात को स्वीकार करनेवाला जीव जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य को मानता ही नहीं।

आत्मा है, उसमें अनंत गुण हैं, उसका प्रतिसमय का स्वतंत्र परिणमन है; उसमें चारित्रगुण की विपरीत दशा में राग होता है; उस राग के निमित्त से किसी जीव को तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है और उसके फल में समवशरण की रचना होती है।—यह सब स्वीकार करे, तभी समवशरण की सच्ची स्वीकृति कही जाती है। आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को, पर्याय को, राग को और संयोग को—इन सब को जो स्वीकार करे, उसे पर्याय की, राग की या संयोग की भावना नहीं होती, किन्तु अपने त्रिकाली स्वभाव की ही भावना होती है। यह सब स्वीकृति आये बिना तीर्थंकर को या तीर्थंकर के समवशरण को यथार्थरूप से नहीं मान सकता। जैनदर्शन की एक भी बात का यथार्थ स्वीकार करने से उसमें पूर्ण वस्तुस्थिति उत्पन्न हो जाती है।

त्रिकाली सामर्थ्य से परिपूर्ण ध्रुव स्वभाव, क्षणिक पर्याय, राग और संयोग—यह चारों प्रकार एकसाथ विद्यमान हैं; उसे जाननेवाले धर्मी की रुचि ध्रुव स्वभाव पर ही पड़ी है; क्षणिक पर्याय की, राग की या संयोग की रुचि उसे नहीं होती। धर्मी ने अपनी दृष्टि को अंतर्मुख करके ध्रुव चिदानन्द स्वभाव को ही दृष्टि का विषय बनाया है। जिसे ध्रुव स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, उसे राग की या संयोग की भावना दूर नहीं होती। समवशरण का संयोग आत्मा के लाने से नहीं आता, वह तो जगत के परमाणुओं का परिणमन है।

जगत में जीव और जड़ समस्त वस्तुएँ प्रतिक्षण स्वतंत्ररूप से परिणमित हो रही हैं। उनमें अनादि से जिसमें उसप्रकार की योग्यता हो, उस जीव को ही तीर्थंकर नामकर्म का बंध होने के शुभ-परिणाम आते हैं, और उसके उदय के समय बाह्य में समवशरण की रचना हो—ऐसा

परमाणुओं का परिणमन होता है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा को समवशरण के संयोग की अथवा जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ, उस शुभभाव की भावना नहीं होती; उसे तो अपने असंयोगी चैतन्यतत्त्व की ही भावना है। मिथ्यादृष्टि जीव को संयोग की और राग की भावना है, उसे कभी तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता।

देखो तो, जगत में जीवों के परिणामों की विचित्रता! एक जीव को समवशरण की रचना होती है और दूसरे को नहीं होती, उसका कारण क्या? अनेक सम्यग्दृष्टि जीव हों, उनमें भी किसी को ही तीर्थंकर नामकर्म का बंध होने योग्य शुभ परिणाम आते हैं, और दूसरे किसी जीव को वैसे परिणाम कभी आते ही नहीं। उसीप्रकार किसी जीव को आहारकशरीर प्राप्त होने के शुभ परिणाम आते हैं और किसी जीव को अनादिकाल से लेकर मोक्ष प्राप्त होने तक कभी भी वैसे परिणाम नहीं आते। किसी सम्यग्दृष्टि जीव को सर्वार्थसिद्धि का भव मिलता है—ऐसे परिणाम होते हैं और किसी सम्यग्दृष्टि को प्रथम स्वर्ग का इन्द्रपद प्राप्त होने के परिणाम होते हैं। कोई जीव चक्रवर्ती होकर पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है और कोई जीव साधारण मनुष्य होकर पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है; कोई जीव केवलज्ञान होने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त में ही सिद्ध हो जाता है और कोई जीव केवलज्ञान होने के पश्चात् करोड़ों-अरबों वर्षों तक मनुष्यदेह में अरिहंतरूप से विचरता है।—संसार में जीवों के परिणाम की ऐसी विविधता है और निमित्तरूप से पुद्गल के परिणमन में भी वैसी विविधता है। सभी जीव अनादि से चले आ रहे हैं; द्रव्य से और गुण से सभी जीव समान हैं; तथापि परिणाम में भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं—उसका क्या कारण है? उसका कारण कुछ नहीं है, परन्तु संसार में परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है। दो केवली भगवान हों; उनके दोनों के केवलज्ञानादि क्षायिकभाव एक-से हों, तथापि उदयभाव एक-सा नहीं होता; उदयभाव में अवश्य कुछ न कुछ अन्तर होता है। धर्मी जीव अपने एकरूप स्वभाव की दृष्टि और भावना रखकर संसार की ऐसी विचित्रता का विचार करता है, उसमें उसे प्रतिक्षण वैराग्य और शुद्धता की वृद्धि होती जाती है, वह संवर-निर्जरा का कारण है।

मोक्षगामी जीवों में भी तीर्थंकर होनेवाले तो अमुक जीव ही होते हैं। अनेक जीवों को तो अनादि-अनंतकाल में तीर्थंकरत्व का भाव ही कभी नहीं आता। वे आत्मा का भान करके, उसमें एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लें, परन्तु जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बंध

होता है, ऐसा शुभराग ही कभी नहीं आता; और किसी जीव को तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो—ऐसा शुभभाव आता है। मोक्ष तो दोनों जीव प्राप्त करते हैं, परन्तु उनके परिणाम में विचित्रता है। इसका क्या कारण?—इसका कारण उस-उस पर्याय की वैसी योग्यता है! यह एक 'योग्यतावाद' (स्वभाववाद) ऐसा है कि सर्व प्रकारों में लागू होता है और सर्व प्रकारों का समाधान कर देता है।—यह निर्णय करने से अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय होता है और 'ऐसा क्यों?' ऐसा प्रश्न ज्ञान में नहीं रहता।

देखो, यह संसार के स्वरूप की विचारणा! यह विचार कौन करता है? ''मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, मेरे स्वभाव में संसार नहीं है''—ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव संसार के स्वरूप का विचार करता है। जिसे संसाररहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, उसे संसार के स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता। [अपूर्ण]

धर्म की इकाई

धर्म की इकाई अर्थात् सम्यग्दर्शन।

अहो! मैं स्वयं परमात्मशक्ति का भण्डार प्रभु हूँ; जितने जीव भगवान हुए हैं, वे सब अंतर में एकाग्रता से ही हुए हैं; मैं भी अपने स्वभाव में एकाग्रता से भगवान हो जाऊँ—ऐसा सामर्थ्य मुझमें हैं; मैं आत्मा ज्ञाता-दृष्टा हूँ, पर की ओर का विकार, वह मैं नहीं हूँ; मेरे ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में से मेरी परमात्मदशा प्रगट होना है—इसप्रकार अपने स्वभाव का निर्णय करना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का और मिथ्यात्व के नाश का उपाय है।

वह तो अभी चौथी भूमिका की अर्थात् धर्म की इकाई की बात है। परमात्मा को तेरहवाँ गुणस्थान होता है, मुनि को छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है, श्रावक को पाँचवाँ गुणस्थान होता है, और यह तो चौथे गुणस्थान की बात है। मुनि या श्रावक होने से पूर्व आत्मा की सच्ची श्रद्धारूप धर्म कैसे होता है, उसकी यह बात है, इसलिये यहीं से धर्म की इकाई का प्रारम्भ होता है।

[—प्रवचन से]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	
समयसार प्रवचन भाग ३	४)	मूल में भूल	
प्रवचनसार हिंदी		मुक्ति का मार्ग	
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	
आत्मावलोकन	१)	अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१)	चिद्विलास	१)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	दसलक्षणधर्म	)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)	जैन बालपोथी	)
समयसार पद्यानुवाद	)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	)	स्तोत्रत्रयी	)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३)	पंचमेरु पूजन	)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया